अंतिम दशक की कहानी में भूमंडलीकरण से प्रभावित जीवन–मूल्य

डॉ0 आशा रानी,

अतिथि प्राध्यापक, दिल्ली विष्वविद्यालय

मूल्य, युगीन परिवेश के साथ–साथ विकसित तथा गतिशील होते रहते हैं, परन्तु ये नष्ट नहीं होते हैं। हालांकि युगगत परिस्थितियों के अनुरूप उनके प्रति हमारा दृष्टिकोण परिवर्तित होता रहता है। आज के वैज्ञानिक तथा तकनीकी और औद्योगिक विकास के युग में मूल्य विकास की प्रक्रिया में यांत्रिक सभ्यता का विशेष हाथ है। प्रत्येक वस्तु का वैज्ञानिक परीक्षण होने के कारण भावात्मक संबंध तथा नैतिक मूल्य टूटने लगे हैं। फिर भी मूल्य विज्ञान की सीमा से परे नहीं समझे जा सकते हैं क्योंकि मूल्यों का उद्‌भव तथ्य या सद्‌वस्तु से होता है, जो विज्ञान का परिचायक है।

मूल्य समाज के आधार बिन्दु हैं। जिनके द्वारा किसी समाज या देश की संस्कृति एवम् सभ्यता निर्मित होती रहती है। परन्तु आज भिन्न परिस्थितियों ने जीवन–मूल्यों को विशेष रूप से परिवर्तित किया है। मुख्यतः शिक्षा, आबादी, वैज्ञानिक प्रगति, भौतिकतावादी अवधारणा, नगरीकरण, औद्योगीकरण, राजनीति, व्यक्तिवाद तथा व्यक्ति चेतना व पाश्चात्य सभ्यता ने प्रभावित किया जिसके कारण भारतीय जीवन–मूल्यों में संक्रमण की जो स्थिति आई, वह पिछले दशकों में नहीं थी। इन समस्त प्रवृत्तियों के कारण हमारे आचार–विचार, चिंतन, आदर्श तथा व्यवहार में अंतर आने लगा।

युगीन परिस्थितियों के साथ देश में शिक्षा का प्रचार होने लगा। गाँव से लेकर शहर तक स्कूलों, कॉलेजों तथा अन्य संस्थाओं का निर्माण हुआ। शिक्षित लोग शहरों में बसने लगे और व्यक्ति काम की तलाश में गाँव से शहर की ओर दौड़ने लगा। वहाँ की सुख–सुविधाओं तथा चकाचौंध ने इतना आकर्षित किया कि वह अपनी संस्कृति तथा सभ्यता को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा। इससे युगों से चले आ रहे सामाजिक तथा नैतिक बंधन शिथिल होने लगे। इस प्रकार वैज्ञानिक तकनीकी तथा औद्योगिक विकास ने व्यक्ति को संकीर्णता से यथार्थ के धरातल पर ला खड़ा किया। विज्ञान ने मानव जाति को एक ऐसी नवीन दिशा प्रदान की है, जिसके आलोक में परम्परागत मूल्य, साहित्य, कला, राजनीति, धर्म, सामाजिक व्यवस्था, नैतिक आचरण, अर्थ, काम, मोक्ष आदि पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य किया।

कथाकार संजीव की कहानी **काउंट डाऊन** हिंदी कहानी के लिए एक नया विषय–विस्तार है और इसके सरोकार कहीं अधिक व्यापक एवम् विस्तृत हैं–पृथ्वी और मानव जाति के अस्तित्व से जुड़े हुए। मंगल–ग्रह के खोजी अभियान पर निकला एक अंतरिक्ष यात्री प्रकाश कहानी का नायक है। रॉकेट में उसका सहयात्री है, सिर्फ एक रोबोट। रॉकेट पृथ्वी के गुरूत्वाकर्षण से परे भागता है और कथानायक का मन पृथ्वी की ओर। पृथ्वी से दूर अंतरिक्ष में भार शून्यता की स्थिति और अंतरिक्षयान के चरम् एकांत में ब्रह्मांड की विराटता के अहसास से भरा हुआ कथानायक का मन चेतना के विभिन्न स्तरों में डूबता–उतराता आज के गूढ़ और जटिल प्रश्नों से जूझता है।

एक ओर तकनीकी विकास है तो दूसरी ओर पृथ्वी के संसाधनों का अनियंत्रित दोहन तथा कथित विकास से चर्रमराता पर्यावरण है, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की कुटिल चालें हैं, जातिवाद, रंगभेद, कमीनगी और ऊंच–नीच है

उसे लगता है कि 'काश कोई ऐसा रॉकेट होता जो इस (मानवीय मन के) गुरूत्वाकर्षण को भेद पाता।

मिथक और आधुनिकता की टकराहट (संक्रमण) के बीच चेतना के स्तर पर द्वन्द्व व तनावग्रस्तता को भी बड़ी तरकीब के साथ चित्रित किया गया है। संजीव की यह कहानी उत्तर–आधुनिकता की अवधारणाओं से लेकर उत्तर–यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में मूल प्रश्नों को प्रभावी ढंग से उठाती है जो धरती व मानव के अस्तित्व से जुड़े हुए हैं।[1]

पृथ्वी पर आज औद्योगिकीरण, वैज्ञानिक प्रगति, पूंजीवाद, बाज़ारवाद, उदारीकरण, खगोलीकरण, नवउदारवाद, पर्यावरण विनाश और उपभोक्तावाद जैसी जितनी प्रवृत्तियाँ चल रही हैं, उन सबके आधार पर भविष्य की एक भयावह तस्वीर कथाकार जितेंद्र भाटिया ने **'अगले अंधेरे तक'** कहानी में प्रस्तुत की है। [2]

आज की परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के आधार पर प्रक्षेपित भविष्य की जबर्दस्त भयावह और रोंगटे खड़े कर देने वाली तस्वीर जितेन्द्र भाटिया ने **'अगले अंधेरे तक'** कहानी में उकेरी है, यह महज विज्ञान–गल्प लेखन नहीं है। सौ साल बाद की कल्पित दुनिया की एक–एक वर्तमान प्रवृत्ति की तार्किक परिणति दिखायी देती है।

कथानायक रवि कुमार 1993 में दंगों के दौरान बम्बई में पुलिस के डंडे की चोट खाकर बेहोश हो जाता है। इसके बाद 2097 तक का समय वह विभिन्न अस्पतालों में 'कोमा' में गुजारता है, असामान्य ढंग से इस दौरान उसके शरीर का विकास रूक जाता है जो कि वैज्ञानिक शोध का विषय बन हुआ है। सौ साल बाद पूर्ण कम्प्यूटरीकृत डी.आई.एम. अस्पताल में उसे जब होश आता है तब तक दुनिया आमूलचूल बदल चुकी है। सौ साल की बाद की दुनिया का चित्र मौजूदा प्रवृत्तियों–खगोलीकरण, उदारीकरण,विशाल बहुराष्ट्रीय कंपनियों की बढ़ती ताकत, नवउदवारवाद, माफिया गिरोहों का शक्ति–विस्तार, कम्प्यूटर और सूचना क्रांति, सर्वत्र आटोमेशन, राष्ट्रीय सरकारों पर विशाल बहुराष्ट्रीय निगमों का कसता शिकंजा, चिकित्सा एवम् विज्ञान का तीव्र विकास, अंतिरिक्ष प्रगति, पर्यावरण एवम् प्राकृतिक परिस्थिति का विनाश आदि के चरमोत्कर्ष से निर्मित है।

राष्ट्र मिट चुके हैं, पूरी पृथ्वी ही नहीं पूरा स्ट्रैटोस्फीयर ही एक देश है । सिर्फ चाँद एवम् मंगल पर जाने को पासपोर्ट चाहिए, जहाँ पृथ्वीवासी बस चुके हैं। बड़े बहुराष्ट्रीय औद्योगिक संस्थान फैलते–फैलते करोड़ों छोटे उद्योगों और धार्मिक–सांस्कृतिक ताकतों को अपने में समाहित कर चुके हैं और अब दो ही संस्थान बचे हैं जो चार वर्षीय ठेकों को आपस में बांटकर सारी दुनिया का मैनेजमेंट कर रहे हैं। दोनों में लड़ाई है–सिर्फ मस्तिष्क पर काबू पाने की । कृत्रिम बुद्धि यानि कम्प्यूटर की आगे उन्नति के बजाय वे सोए हुए मानवीय दिमाग को, मशीनों से पूरी तरह काबू कर लेना चाहते हैं। गरीब व्यक्ति इस शोध के लिए प्रयोगशाला के पशु बन चुके हैं। खाना गोलियों के रूप में मिलता है। हेडफोन व कम्प्यूटर के जरिए हर तरह की अनुभूति मिल सकती है मनचाहे स्त्री–पुरूष के साथ सेक्स तक की। यातायात के लिए सुरंगों में चलने वाले एस्केलटर और मोनोरेल है। इंफ्राड किरणों एवम् प्रदूषण से बचने के लिए हर आदमी के मुँह पर मास्क है। मोर, हिरण आदि जैसे जानवरों का परिचय सिर्फ म्यूज़ियम में बचा है। दो बचे बहुराष्ट्रीय संस्थानों–पूर्व वालों और पश्चिम वालों में मिसाइलों और रॉकेटों के हमले होते रहना आम बात है। मौजूदा ज़िन्दगी से ऊब चुका एक बड़ा तबका आत्मविश्वास के दर्शन में विश्वास करने लगा है।

कथानायक रवि कुमार अस्पताल से निकल भागता है। उसे बदल चुकी दुनिया की जानकारी एक ऐसे बूढ़े से मिलती है जो प्रगति

के पहले वाली सादगीपूर्ण कुदरती दुनिया की आकांक्षा रखने वाले एक संगठन का सदस्य है।

महानगर की आपाधापी में गुम होती सामाजिकता को सषक्त ढंग से रेखांकित करती कहानी **दफन** मानवीय मूल्यों के दमघुटने की कहानी है। रचनाकार मनोज रूपड़ा शहरों की परुषता पर एक कुठाराघाता करते चलते हैं। धरमपुरा गाँव का सुक्खू मुम्बई में अपनी माई के साथ झोंपड़ीनुमा खोली में रहता है और रेत के जहाजों में नौकरी करता है। एक रात उसकी बीमार माई चल बसती है। सुबह से वह बस्ती वालों और आस–पड़ोस के लोगों से माई को शमशान ले जाने के लिए मदद माँगता है परंतु हर आदमी व्यस्त हैं उसे कोई कंधा देने का वाला नहीं मिलता। शवदाह गृह में 440 रूपये चाहिए जबकि उसका सारा पैसा इलाज में खर्च हो चुका है। उसके गाँव का लंगोटिया यार दीनू से सुक्खू को आशा हैं लेकिन दीनू बदल चुका हैं । वह सौ रूपए का नोट देकर पल्ला झाड़ लेता है। इस सबमें सारा दिन निकल जाता है और जब एक टैम्पो में लाश रखकर वह शमशान पहुँचता है तो फाटक पर ताला पाता है। जिसका कारण है, हिंदू रीति के अनुसार सूर्यास्त के बाद दाह संस्कार नहीं हो सकता हैं । लाश सड़ रही है। परिस्थितियों और टैम्पो ड्राईवर के सुझाव पर वह एक इस्लामी कब्रिस्तान में पहुँच जाता है और इस्लाम के अनुसार अपनी माँ का अंतिम संस्कार कर देता है और 'अधर्म का बोध' मुम्बई महानगर में अकेलेपन के सम्मुख हार जाता है। मनोज रूपड़ा महानगर की पीड़ा और अकेलेपन की व्यथा को जीवंत प्रस्तुत करने में सफल रहे हैं– ''कितना बड़ा शहर है...कितने सारे लोग... फुसफुसाहटों के धुंध में एक–दूसरे को नकारते लोग पहचानी चीज़ों पर अपरिचय से कटते लोग ...आग की तरह भभकते लोग...मोम की तरह पिघलते लोग...मशीनों, कारखानों, फैक्ट्रियों के जंगल में फुफकारते, नोचते, खीझते लोग... लाखों–लाख कंधे...मग़र कोई कंधा खाली नहीं... सब किसी अनदीखते बोझ से लदे हुए...।''[3]

'टुंड्रा प्रदेष' कहानी समाज के उस तबके की ओर इंगित करती है जहाँ समाज ने स्वयं को विश्व ग्राम में तबदील तो कर लिया किंतु लोकमंगल की भावना को भुला बैठा। इस कहानी की शुरूआत ही बच्चों के दो वर्गों की तुलना से होती है। एक ओर वे बच्चे हैं जिनके ख्वाबों में सांता क्लाज हैं और जिनमें कपिलदेव बनने की महत्त्वाकांक्षा है दूसरी ओर ये बच्चे हैं जो कड़कड़ाती सर्द रात में मूंगफली बेच रहे हैं। बेहद संवेदनशीलता के साथ पंकज बिष्ट ने इस कहानी को रचा है। मूंगफली बेचता बड़ा भाई चाहता है कि दस रूपए की कमाई हो जाए। नौ रूपए की मूंगफली वह बेच चुका है। एक रूपए के लिए किसी ग्राहक के इंतज़ार में है, इंतज़ार करते–करते सोचता है कि इससे बेहतर धंधा पान बेचने का, पर मां कहती है कि बच्चे के हाथ से पान कोई नहीं लेता। इसलिए उसे खुद के बड़े होने का इंतजार भी है। इस बीच वह साइकिल का टायर जो उसका भाई खिलौने की तरह खेल रहा है, दस रुपाए कमाने की लालसा में वह उसके हाथ से वह खिलौना ले लेता है और मूंगफलियाँ गर्म करने के लिए कागज–तिनके न होने के कारण ठंड से मुकाबला कैसे किया जाए! जब अंत में कुछ नहीं मिलता तो बड़ा भाई छोटे भाई के समक्ष टायर जलाने का प्रस्ताव रखता है। छोटा भाई यह सुनकर दुख से भर उठता है पर चाहकर भी प्रतिवाद नहीं कर पाता। उसकी चुप्पी इधर बड़े भाई को परेशान कर देती है। वह टायर को आग में डाल देता है, लेकिन अचानक फिर उसे बाहर निकाल देता है और कहता है कि वह टायर को सिलवा देगा या नया खरीद देगा। वह उसी वक्त छोटे भाई को ठेले पर बैठाकर घर चल देता है और लगातार उसे आश्वासनों का मरहम लगाता जाता है। रास्ते में जहां चढ़ाई आती है, उसकी सांसें तेज हो जाती हैं। अब छोटा भाई उसके प्रति संवेदनशील हो उठता है और ठेले को ऊपर ठेलने में मदद करने लगता है। यहाँ छोटे भाई में दायित्व बोध प्रस्फुटित होता दिखाई देता है।[4]

कहानी **पुतला** अपने आप में कई ज्वलंत प्रश्नों को उठाते हुए मानव मस्तिष्क में एक

बिजली–सी कौंध उत्पन्न करती है। 'ग्लोबलाइजेशन' के तथाकथित इस युग में जहाँ विकास की बातें की जाती हैं। जहाँ केवल 'वसुदैव कुटुम्बकम्' सरीखे नारे बेमानी से लगते हैं । वहीं प्रस्तुत कहानी हमारे उसी दुनिया : एक घर की परिधि को ओर संकरा करती हुई उसमें होने वाली घटनाओं की अनन्ता काल रात्रि के साये को और भी गहरा देती है।

ग्लोबलाइज़ेशन के नाम पर कईं स्थानों पर हो रहे अपनी और दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण हमें किस तरह से सभ्य पुरूष से 'असभ्य पशुता' की ओर खींच रहा है इसका अनुमान हमें स्वप्न में भी नहीं आता। प्रस्तुत कहानी के माध्यम से संजय खाती उसी प्रश्न को उठाते हैं। कुछ सत्तारूढ़, संपन्न और सशक्त मुट्ठी भर लोग अपनी झूठी वैभव–सम्पन्न–प्रभुता को स्थापित करने के लिए किस हद तक जा सकते हैं और हज़ारों लाखों किलोमीटर की दूरी केवल एक 'विकास दर की रेटिंग बढ़ाने के नाम पर किस हद सामान्य जीवन को प्रभावित कर सकती है प्रस्तुत कहानी में केवल एक 9 वर्ष का बच्चा उस तथाकथित ग्लोबलाईजेशन में अपने को कितना विकसित और उन्नत समझता है दर्शाया गया है। जिसे उस तथाकथित 'जार भुस्स' का नाम भी ठीक से बोलना नहीं आता वह कैसे इसकी चपेट में आकर अपना बचपन खो बैठता है। वसुदैव कुटुम्बकम् की सूक्ति यहाँ फीकी रह जाती है। सूचना क्रांति का प्रभाव उसके जीवन को भी प्रभावित करने से नहीं चूकता । संजय खाती कहानी में इसे इंगित करते हैं – ''.....वह समझदार था । अपनी उम्र के बाकि शहरी लड़कों की तरह। वह टी0वी0 पर आने वाली हर चीज़ देखता था । उसमें लड़ाई की खबरें आ रही होतीं। घर में बड़े लोग अखबार पढ़ते थे और अपनी पसंद के समाचारों पर बहस करते थे। इस सूचना प्रवाह से वह बच नहीं सकता था ।...''[5]

भूमंडलीकरण के दौर में जहाँ दुनिया सिकुड़ कर नज़दीक आ चुकी है उसका प्रभाव कितनी सहजता से उसके भीतर रहने वाले तथाकथित अमेरिकी पर पड़ता है तो वहीं इराक में रहने वाला भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता तो भारत कहाँ से अछूता रहेगा । मोर्चाबंदी, प्रदर्शन और अंत में दंगे–फसाद, और उनके बीच पिसता आम आदमी यही नियति हमारी विकासशील संस्कृति पर सवाल लगाती है।

अंततः यह कहानियाँ जहाँ समाज में बदलाव और विकास को प्रदर्शित करती हैं वहीं दूसरी ओर मानवीय मूल्यों पर पड़ने वाले प्रभाव को व्यंजनापूर्वक प्रस्तुत करते हुए पाठक के मन में एक टीस उत्पन्न करती हैं। विकास के नाम पर मशीन बनता मनुष्य, ठंडी होती भावनाएँ पाठक को यह सोचने के लिए मजबूर कर देती हैं कि हम अर्श पर हैं या फ़र्श पर।

संदर्भ

1. काउंट डाऊन, संजीव, (सौजन्य से)कहानी संग्रहः ब्लैक होल, हंस पत्रिका, अक्षर प्रकाषन
2. अगले अंधेरे तक, जितेन्द्र भाटिया, हंस अर्द्धशती–विशेषांक खण्ड–2, अक्तूबर,1997
3. दफन, मनोज रूपड़ा, (सौजन्य से)कहानी संग्रहःदफन तथा अन्य कहानियाँ, हंस पत्रिका, अक्षर प्रकाषन
4. टुंड्रा प्रदेष, पंकज बिष्ट, समकालीन कहानी, राजकमल प्रकाषन
5. पुतला , संजय खाती–हंसः 1991 जुलाई

Copyright © 2014. *Dr.Asha Rani*. This is an open access refereed article distributed under the Creative Common Attribution License which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.